

नियमसार, १८० कलश है। कलश १८०।

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिन्ता मुनीनां,
मुक्तिं यान्ति स्वसुखरतयस्तेन निर्धूत-पापाः।
अन्या चिन्ता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्ताः,
पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥१८०॥

[श्लोकार्थः] मुनियों को स्वात्मा का चिन्तन... देखा! कोई क्रिया नहीं। स्व-आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसका चिन्तन अर्थात् विकल्प नहीं; एकाग्रता। **मुनियों को स्वात्मा का...** - ऐसा कहकर परमात्मा पंच परमेष्ठी का भी ध्यान में राग है। पंच परमेष्ठी भी परद्रव्य है, उनका चिन्तन करने से भी राग होता है। **स्वात्मा का चिन्तन वह निरन्तर प्रायश्चित्त है;**... आहाहा! अन्तर आनन्दस्वरूप का स्वाद लेने पर, सुख में मग्न होने पर, अतीन्द्रिय सुख में मग्न होने पर निरन्तर प्रायश्चित्त है। आहाहा!

निज सुख में रतिवाले... मुनि उन्हें कहते हैं, अपने आनन्द में प्रेमवाले। जिन्हें निज आनन्द में रति है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भी निज रति आनन्द में है परन्तु आनन्द थोड़ा होता है। सम्यग्दर्शन में आनन्द थोड़ा होता है। पाँचवें गुणस्थान में विशेष होता है, मुनि को विशेष होता है। इसलिए कहते हैं, **सुख में रतिवाले वे उस प्रायश्चित्त द्वारा पाप को खिराकर...** आहाहा! यह प्रायश्चित्त। स्वरूप में एकाग्रता, अतीन्द्रिय आनन्द में उग्रता, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! **वे उस प्रायश्चित्त द्वारा पाप को खिराकर...** पाप को खिराकर, ऐसा कहा। पुण्य-पाप दोनों को पाप कहा। शुभ और अशुभभाव दोनों को खिराकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। आहाहा! मार्ग भी बताया और मार्ग का फल भी बताया। अन्तर आनन्दस्वरूप में रति—प्रेम और आनन्द का वेदन। उस वेदन द्वारा पाप अर्थात् शुभ-अशुभभाव को झाड़कर उनका नाश करते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं। झाड़कर, वापस होता है। यहाँ तो समझाना है न? झाड़ना कहाँ है?

अन्तर में आनन्द में रमते हुए, ध्यान हो, तब राग उत्पन्न नहीं होता, उसे खिरा डाला, ऐसा कहने में आता है। राग का खिराना, ऐसा कहाँ है? यह तो (समयसार) ३४ गाथा में आ गया है। राग का नाश भी नाममात्र है। राग का नाश आत्मा करता है, यह नाममात्र है। आहाहा! यह तो आत्मा आनन्दस्वरूप में रमता है, इसलिए राग की उत्पत्ति नहीं होती। उसने राग को झाड़ दिया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : कहना कुछ और आचरना कुछ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु यह है। भाषा किस प्रकार लाना ? कर्म छूट जाते हैं, उसकी भाषा क्या लाना ? इसलिए खिरा डालते हैं, ऐसा (कहते हैं)। आहाहा! समयसार की ३४ गाथा में तो ऐसा कहा कि राग और द्वेष का नाश करता है, वह नाममात्र है। आत्मा नाश

करता नहीं। परमार्थ से नाश नहीं करता। अन्दर स्वरूप में रमता है, इसलिए उत्पन्न नहीं होता। उसे नाश करता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

यदि मुनियों को (स्वात्मा के अतिरिक्त)... देखो, आहाहा! अन्य चिन्ता हो... अन्य द्रव्य की कोई भी चिन्ता हो। आहाहा! पंच परमेष्ठी की भी यदि चिन्ता हो तो राग है। अन्य चिन्ता हो तो वे विमूढ़... आहाहा! कामार्त... इच्छा का कामी है, कहते हैं। आहाहा! पापी पुनः पाप को उत्पन्न करते हैं। आहाहा! मुनि, मुनि को कहते हैं। स्वयं मुनि है। अपने आनन्दस्वरूप भगवान में से बाहर निकलने से परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाने पर चाहे तो पंच परमेष्ठी हो, उनका स्मरण हो तो वह शुभराग है। आहाहा! वह कोई धर्म नहीं है, वह कोई मुक्ति का कारण नहीं है। इसलिए कहा, पापी, तेरे स्वस्वभाव का आश्रय छोड़कर यदि परपदार्थ के आश्रय में रुका तो पापी है। आहाहा! पापी पुनः पाप को उत्पन्न करते हैं। आहाहा! इसमें क्या आश्चर्य है? आहाहा! है न? यह १८० कलश (पूरा) हुआ।

गाथा-११४

कोहादिसगन्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं ।
 पायच्छित्तं भणितं णियगुणचिन्ता य णिच्छयदो ॥११४॥

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।
 प्रायश्चित्तं भणितं निज-गुण-चिन्ता च निश्चयतः ॥११४॥

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम् । क्रोधादिनिखिलमोहरागद्वेष-
 विभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावनायां सत्यां निसर्गवृत्त्या प्रायश्चित्त-मभिहितं
 अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहजगुणचिन्ता प्रायश्चित्तं भवतीति ।

क्रोधादि आत्म-विभाव के क्षय आदि की जो भवना ।
 है नियत प्रायश्चित्त वह जिसमें स्वगुण की चिन्तना ॥११४॥

अन्वयार्थ : [क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां] क्रोध आदि स्वकीय
 भावों के (-अपने विभावभावों के) क्षयादिक की भावना में [निर्ग्रहणम्] रहना
 [च] और [निजगुणचिन्ता] निज गुणों का चिन्तन करना, वह [निश्चयतः] निश्चय
 से [प्रायश्चित्तं भणितम्] प्रायश्चित्त कहा है ।

टीका : यहाँ (इस गाथा में) सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ ऐसा
 निश्चय-प्रायश्चित्त कहा गया है ।

क्रोधादिक समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के क्षय के कारणभूत निज
 कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर निसर्गवृत्ति के कारण (अर्थात्
 स्वाभाविक-सहज परिणति होने के कारण) प्रायश्चित्त कहा गया है; अथवा , परमात्मा
 के गुणात्मक ऐसे जो शुद्ध-अन्तःतत्त्वरूप (निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण
 उनका चिन्तन करना वह प्रायश्चित्त है ।

गाथा - ११४ पर प्रवचन

११४ गाथा ।

कोहादिसगठभावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥११४॥

क्रोधादि आत्म-विभाव के क्षय आदि की जो भवाना ।
है नियत प्रायश्चित्त वह जिसमें स्वगुण की चिन्तना ॥११४ ॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ.... लो ! ठीक । आत्मा कर्म को तो स्पर्श भी नहीं करता । कर्म और आत्मा के बीच तो अत्यन्ताभाव है । निमित्त से कथन है । आहाहा ! किस शैली का कथन है, यह न जाने । जड़ है, एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता तो फिर अरूपी आत्मा कर्म को स्पर्श नहीं करता और कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करता । अब यह स्पर्श नहीं करता, उसका नाश करना । आहाहा ! है ? सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में.... मूल से उखाड़ देने में अर्थात् उनका अंश भी नहीं रहे । समर्थ ऐसा निश्चय-प्रायश्चित्त कहा गया है । आहाहा !

क्रोधादिक समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के... यहाँ क्या कहते हैं ? क्रोध शब्द से द्वेष का भाव । द्वेष के दो प्रकार :— क्रोध और मान । राग के दो प्रकार :— माया और लोभ । उन्हें समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के... अर्थात् वह अपना स्वभाव है । है ? गाथा में है, देखो ! क्रोध इत्यादि स्वकीय भाव के... अन्वयार्थ में है । गाथा में अन्वयार्थ में है । क्रोध मूल पाठ में है । क्रोधादिस्वकीयभाव आहाहा ! ११४ गाथा । जो विकार है, वह स्वकीय अपना भाव है । आहाहा ! है ? 'क्रोधादिस्वकीयभावक्षय-प्रभृतिभावनायां' क्रोध आदि स्वकीय भावों के (-अपने विभावभावों के)... आहाहा ! क्रोध, मान, दया, दान, व्रत, भक्ति वह बन्ध का कारण है, तथापि अपना है । अपने में, अपने में, स्वयं उनका कर्ता है । आहाहा !

यहाँ एक ओर ऐसा कहे, एक ओर ७५ गाथा (समयसार) में ऐसा कहे कि आत्मा अपने स्वभाव में व्यापक होने से स्वभाव का वह कर्ता है और विभाव का व्यापक कर्म है और विभाव उसका व्याप्य अर्थात् कार्य है । आहाहा ! वहाँ स्वभाव को भिन्न करके विभाव

को कर्म के निमित्त से हुए को दो में एक कर डाला। ७५ गाथा (समयसार)। आहाहा! कर्म व्यापक है - कर्ता और विकार कार्य है। वहाँ ज्ञानी की बात है। ७५ गाथा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि विकार स्वकीय है। मेरी पर्याय में - अवस्था में उससे होता है; पर के कारण नहीं, पर में नहीं, पर से नहीं। आहाहा! घड़ीक में ऐसा आवे, घड़ीक में ऐसा आवे। लो! क्या अपेक्षा है? ७५-७६ में जो कहा कि कर्म व्यापक, कर्म कर्ता और रागादि कार्य, वह तो स्वभाव की दृष्टि हुई है, वहाँ दृष्टि में वह राग नहीं है। जैसे कर्म नहीं, वैसे भाव भी नहीं। इस प्रकार ज्ञानी को राग और द्वेष है नहीं, इस अपेक्षा से (कहा है)। यहाँ कहते हैं, ज्ञानी मुनि को अभी राग होता है। है? स्वकीय पाठ है न? स्वकीय, ११४ गाथा। क्रोध आदि स्वकीय भावों के... पाठ में है। क्रोधादि स्वकीय भाव। वे अपने भाव हैं। आहाहा! प्रायश्चित्त का अधिकार है। प्रायश्चित्त है, तब इसमें होवे उसमें से छोड़े न? दूसरे के कहे तो उसे छोड़े कहाँ? आहाहा!

यहाँ (इस गाथा में) सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ ऐसा निश्चय-प्रायश्चित्त कहा गया है। सत्य प्रायश्चित्त है। दोष लगा हो और गुरु के निकट प्रायश्चित्त लेना, वह तो विकल्प और व्यवहार है। आहाहा! क्रोधादिक... अर्थात् मान, माया, लोभ, दया, दान, व्रत, भक्ति समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों... स्वकीय कहा था न? अर्थात् वह अपना स्व भाव है। आहाहा! विकार मुनि को भी अपना स्व भाव है। यह है तो मुनि की व्याख्या। आहाहा! एक ओर विकार को जड़ कहे और कर्म का कार्य कहे। वह तो जैसे जड़ इसका नहीं है, वैसे उसका फल जो विकार वह भी नहीं है। दो को एक करके निकाल डाला और यहाँ तो इसकी पर्याय में है, उसका नाश होता है। दूसरे का दूसरे में हो और दूसरे का नाश यह तो कर नहीं सकता। दूसरे में होवे तो दूसरे को स्पर्श नहीं करता और नाश नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समझ में आया?

मोहरागद्वेषरूप... पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भी मुनि के भाव। मुनि के, हों! उन्हें विकार है। आहाहा! वह विभावस्वभाव है। विकार स्व-अपना भाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : पाँच महाव्रत ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विकारी भाव है। यह अपने कल आ गया। पाँच महाव्रत,

पाँच समिति, निश्चय में अन्तर में ध्यान, वह निश्चय प्रायश्चित्त है। लोग जो बाहर व्रत लेते हैं, वह तो विकल्प है। कल आ गया था।

पाँच महाव्रतरूप, पाँच समितिरूप, शीलरूप और सर्व इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काया के संयमरूप परिणाम तथा पाँच इन्द्रियों का निरोध—यह परिणतिविशेष सो प्रायश्चित्त है। यह ११३वीं गाथा में आ गया था। आहाहा! यह दुनिया से अलग चीज़ है। एक ओर ऐसा कहे कि विकार जीव का नहीं। जीव के स्वभाव में कोई एक भी गुण; अनन्त गुण है, अनन्त-अनन्त गुण है परन्तु एक भी गुण विकार करे - ऐसा कोई गुण ही नहीं है। आहाहा! यह क्या कहा? आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं, बेहद गुण हैं। तीन काल के समय की अपेक्षा भी अनन्तगुने गुण हैं, तथापि एक भी गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे। आहाहा!

मुमुक्षु : वैभाविकगुण है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय में अद्भर से होता है। निमित्त के आधीन पर्याय में होता है। कोई गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे। आहाहा!

मुमुक्षु : वैभाविकगुण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वैभाविकगुण भले हो। विभाविक कहा न? स्व। विभाविक भाव स्व है। इसकी पर्याय में है। स्वकीय कहा न? इसकी पर्याय में है, इसका है, इसका किया हुआ है, उसका यह कर्ता है, उसे यह वेदता है। आहाहा! उसका यहाँ नाश करना है। सूक्ष्म बात है, भाई! आड़ी-टेड़ी बात हो जाए। जिस जगह किस अपेक्षा से कहा है, वह अपेक्षा न समझे और एकान्त खींचे... आहाहा! दूसरी जगह सर्वत्र ऐसा ही कहा है। राग आत्मा का है ही नहीं, वह तो ज्ञायकभाव है। ज्ञायकभाव राग करे? यह तो मिथ्यात्व है।

यहाँ कहते हैं कि रागादि मुनि को भी स्व आत्मा का स्व है। आहाहा! मोह, राग, द्वेष स्वकीय। पाठ में है न? मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के... है विभाव, परन्तु है स्वभाव इसकी पर्याय का। मूल पाठ स्वकीय है न? उसका अर्थ किया है। मूल पाठ स्वकीय है। अपने विभावभाव, देखो! कोष्ठक में। अन्वयार्थ में स्वकीय भावों के (-अपने विभावभावों के)... आहाहा! यह ११४वीं गाथा है न? मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों

के क्षय के कारणभूत... विभावस्वभाव के नाश के कारणभूत। आहाहा! निज कारणपरमात्मा... पर परमात्मा नहीं। पंच परमेष्ठी नहीं। इसलिए निज शब्द प्रयोग किया है। निज परमात्मा के स्वभाव की भावना। आहाहा! निज परमात्मा, कारणपरमात्मा द्रव्य। त्रिकाली द्रव्य ध्रुव, वह निज परमात्मा। आहाहा! उसकी - स्वभाव की भावना।

कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर निसर्गवृत्ति के कारण (अर्थात् स्वाभाविक)... निसर्ग अर्थात् स्वभाव। (सहज परिणति होने के कारण)... आहाहा! कौन? चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से जो स्वभावपरिणति होती है, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! विभावपरिणति की वहाँ उत्पत्ति नहीं है। आहाहा! कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना, वह परिणति पर्याय है। निसर्गवृत्ति है। वे राग, क्रोधादि, विकार भाव थे। पुण्य-पाप, दया, दान, वह विकारभाव थे। यह निसर्गवृत्ति है, स्वाभाविक परिणति है। आहाहा! आमने-सामने विरुद्ध है। पुण्य और पाप, वह विभावस्वभाव विकारी अपनी पर्याय में थे और यह भी निसर्ग परिणति। निज कारणपरमात्मा को अवलम्बन कर जो परिणति होती है... आहाहा! उसे यहाँ निसर्गवृत्ति अर्थात् स्वाभाविक सहज परिणति है। आहाहा! शुद्ध चैतन्य की सहज परिणति द्वारा विभाव स्वभाव जो पर्याय में है, उसका वह नाश करता है। आहाहा! पहले तो अभी समझना कठिन पड़े। प्रयोग तो करे कब? आहाहा!

(स्वाभाविक-सहज परिणति होने के कारण)... कौन? वह राग विभाव, दया, दान का विभावस्वभाव स्व में-पर्याय में उत्पन्न था, उसे कारणपरमात्मा के आश्रय से भावना प्रगट करने पर स्वाभाविक परिणति के सहज परिणति के कारण प्रायश्चित्त कहा गया है;... किसे? पर्याय को। कौन सी पर्याय को? कि द्रव्य के आश्रय से निर्मल हुई उसे। वस्तु जो त्रिकाल निर्मल है, त्रिकाल निर्मल है, उसके आश्रय से निर्मल परिणति हुई, वह स्वकीय राग-द्वेषादि का नाश करती है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसका अर्थ कि राग-द्वेष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है। मुनि को अभी राग-द्वेष है। तब नाश करते हैं न? केवली को है तो नाश करते हैं? मुनि को, ज्ञानी को। ज्ञानी-मुनि को भी अभी राग-द्वेष का वेदन है। राग-द्वेष है, वह वेदन है। उतना कर्तापना है। परिणमे वह कर्ता, इस हिसाब से कर्ता भी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

निसर्गवृत्ति... वह पुण्य-पाप का स्वविकारी विभावस्वभाव था। इसे निसर्ग अर्थात् स्वभावदृष्टि की चिन्तवना की एकाग्रता से **निसर्गवृत्ति के कारण प्रायश्चित्त कहा गया है;**... उसे प्रायश्चित्त कहा है—धर्म। प्रायश्चित्त कहो, मोक्ष का मार्ग कहो, चारित्र कहो, वीतरागता कहो। आहाहा! यह एक बात है। अब यहाँ कारणपरमात्मा लिया। द्रव्य। पहले द्रव्य की भावना ली थी। अब इस द्रव्य के गुण की भावना लेते हैं। आहाहा! है ?

अथवा, परमात्मा के गुणात्मक... पहले द्रव्य की ली थी। त्रिकाल कारणपरमात्मा को अवलम्बन कर जो शुद्धपरिणति होती है। शुद्ध होती है, हों! राग नहीं, शुभराग नहीं। शुद्धपरिणति होती है, वह प्रायश्चित्त है। वह परिणति राग का नाश करती है। अब गुण की बात ली है। यह द्रव्य की थी। अब **परमात्मा के गुणात्मक...** दूसरा बोल ऐसा लिया। परमात्मा अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, उसके गुण की एकाग्रता। ऐसा लिया।

गुणात्मक... आहाहा! परमात्मा के गुणस्वरूप, **ऐसे जो शुद्ध-अन्तःतत्त्वरूप...** भाव लिया है, द्रव्य नहीं। **शुद्ध-अन्तःतत्त्व...** अन्तःस्वभाव। द्रव्य का जो अन्तःस्वभाव। कारणपरमात्मा का अन्तःस्वभाव। आहाहा! यहाँ गुण लिये। उसमें द्रव्य लिया था। **शुद्ध-अन्तःतत्त्व...** अन्तःतत्त्व अर्थात् भाव। अन्तर के भाव। (निज) **स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण...** देखो! आया। यह अन्तःतत्त्व कौन? द्रव्य नहीं। **अन्तःतत्त्वरूप (निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण...** ज्ञान, समकित, चारित्र अन्दर जो त्रिकाली गुण। **सहजगुण उनका चिन्तन...** गुणों का चिन्तन अर्थात् एकाग्रता। आहाहा! पहले द्रव्य में एकाग्रता कही थी। अब यह गुण में एकाग्रता (कही)। आहाहा!

मुमुक्षु : गुण और गुणी का भेद कैसा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभेद है, तथापि भिन्न करके अधिक स्पष्ट बताया है। गुण का चिन्तन करे तो भी द्रव्यदृष्टि है। द्रव्य का चिन्तन करे तो द्रव्य है। गुण का कहीं यहाँ भेद नहीं है परन्तु दो बातें ली हैं। अन्दर आनन्द का लक्ष्य करे—ज्ञान का, वह गुण का लक्ष्य कहलाता है और द्रव्य का लक्ष्य करे, वह कारणपरमात्मा कहलाता है। कारणद्रव्य। कारणद्रव्य का चिन्तन, वह भी प्रायश्चित्त और गुण का चिन्तन, वह भी प्रायश्चित्त। आहाहा!

ऐसे जो शुद्ध-अन्तःतत्त्वरूप (निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक... आत्मा के सहज ज्ञान-दर्शन त्रिकाल रहनेवाले शुद्ध ध्रुव। आहाहा! पहले द्रव्य ध्रुव था। यहाँ गुण ध्रुव

लिये। आहाहा! (निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिन्तन... भगवान आत्मा के गुणों का चिन्तन। आहाहा! चिन्तन अर्थात् विकल्प नहीं, हों! चिन्तन शब्द से विकल्प नहीं। निर्विकल्प। आहाहा! क्योंकि निश्चय प्रायश्चित्त है न? कहीं विकल्प से राग का नाश होगा? तथापि चिन्तन शब्द पड़ा है। चिन्तन का अर्थ अनन्त गुण हैं, उन गुणों की एकाग्रता। अनन्त गुणों में एकाग्रता। पहले द्रव्य को धारकर एकाग्रता करे। अब गुणों को लक्ष्य में लेकर एकाग्रता करे। सब अनन्त गुणों को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्रता (करे) आहाहा! इसका नाम चिन्तन है।

उनका चिन्तन करना, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त की व्याख्या। वह कहे कि पाप लगा हो तो गुरु के पास जाकर कहे कि मुझे माफ करो। वह सब व्यवहार राग है। आहाहा! यह तो अन्तर प्रभु चैतन्यद्रव्य अनन्त गुण का धाम, 'स्वयं ज्योति सुखधाम' ऐसा जो आत्मा, उसकी एकाग्रता, उसके सन्मुख एकाग्रता (होती है); वह विभाव स्व जो पर्याय में है, उसका नाश करता है। आहाहा! और यह गुण का चिन्तन करने पर, जो सहज परिणति उत्पन्न होती है, उसमें भी सहज है न? सहजज्ञानादिक... आया न? उसमें निसर्गवृत्ति... थी। सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिन्तन करना, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! व्यवहार का तो भुक्का उड़ा देते हैं। व्यवहार से कुछ होगा, राग से कुछ होगा और राग नहीं, दोनों मिथ्या बातें हैं। राग है, तब नाश करने का कहा जाता है। मुनि को राग है और राग है तो कर्ता भी है और राग कर्ता है तो वेदना भी है, भोक्ता भी है। छठवें गुणस्थान में राग का भोक्ता-कर्ता है। ऐसे को द्रव्य और गुण की एकाग्रता से मुनि को स्व में जो विकार है, (उसका नाश होता है)। आहाहा! एक बात में कितनी बात समाहित कर दी! मुनि है, विकार है। एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को विकार नहीं है। आस्रव और विकार नहीं है, बन्धन नहीं है, चौथे गुणस्थान में। आहाहा! एक ओर कहे कि छठवें गुणस्थान में भी अभी राग है, कर्ता और भोक्ता है। आहाहा! किस अपेक्षा से है, यह न समझे। एकान्त-एकान्त माने तो एकान्त हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि गुणों की एकाग्रता। एक बात है कि गुणी और गुण का भेद रखे, ऐसा नहीं। भेद से विकार करे तो विकल्प है। परन्तु गुणों का चिन्तन का अर्थ पूरा ऐसा पूर्ण गुण है, उनमें भी द्रव्य का गुण जो पूरा स्वभाव है, उसकी एकाग्रतारूपी परिणति, उसे

यहाँ सहजदशा, निर्मलपरिणति, शुद्धपरिणति, वीतरागपरिणति को यहाँ प्रायश्चित्त कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी सूक्ष्म बातें। वह कहे कि दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, इससे कल्याण होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : आप तो इनकार करते हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र इनकार करते हैं न! शास्त्र इनकार करते हैं। ऐसी पुकार यहाँ तो ४५ वर्ष से चलती है। सम्प्रदाय में भी कहते थे। एक बार नहीं कथा था ? (संवत्) १९८५ का वर्ष। १९८५ के वर्ष। यहाँ तो १९९१ में परिवर्तन (किया) पहले १९८५ के वर्ष में उसमें (सम्प्रदाय में) थे। बोटाद। बोटाद के लोग व्याख्यान में बहुत आते थे। १०००-१५०० लोग। तीन सौ घर हैं, सब आवे। कानजीस्वामी व्याख्यान पढ़ने बैठे हैं, ऐसा नाम पढ़े, वहाँ तो झुण्ड का झुण्ड एकत्रित हो। उस समय कहा था। १९८५ के वर्ष में पौष महीने में। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह भाव अधर्म है; धर्म नहीं। धर्म से बन्ध पड़े तो मुक्ति कब होगी ? आहाहा! और पंच महाव्रत जो है, वे आस्रव हैं। यह १९८५ में सम्प्रदाय में कहा था। एकदम खलबलाहट हो गयी थी। सभा में खलबलाहट नहीं हुई। वे जगजीवन साधु बैठे थे न, उन्होंने कहा वोसरे... वोसरे... यह हमें मान्य नहीं है। न मान्य हो तो बैठे रहना था। कौन तुम्हारा मानता है यह ? सभा।

राग है, वह बन्ध का कारण है। पंच महाव्रत के परिणाम भी राग, आस्रव और दुःख है। पंच महाव्रत के परिणाम आस्रव कहो, विकार कहो, दुःख कहो... आहाहा! जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधे, उस भाव का आस्रव कहो, बन्ध कहो, वह दुःख है। दुःख के कारण बन्धन है। आत्मा का सुख होवे तो उससे बन्धन नहीं हो सकता। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं। दोनों में सहज लिया है। कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर निसर्गवृत्ति... ली है। और गुण की भावना लेने पर सहज ज्ञानादि लिया है। भाई! सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिन्तन करना, वह प्रायश्चित्त है। ओहोहो! मुनिराज बहुत कहना चाहते हैं। स्वयं मुनि हैं। मुनि के लिये कहते हैं, पापी! मुनि होकर और तू राग का सेवन करता है और राग की बातें करता है। राग से लाभ होगा... आहाहा! यह ११४ गाथा (पूरी) हुई।

श्लोक-१८१

[अब, इस ११४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(शालिनी)

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च ।
किञ्च स्वस्य ज्ञानसम्भावना वा सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे ॥१८१॥

(वीरछन्द)

काम क्रोध क्षय की जो है मुनियों को सम्भावना अहो ।
अथवा अपने ज्ञानभाव की वर्ते सम्भावना अहो ॥
यही उग्र प्रायश्चित्त है - यह कहते हैं मुनिनाथ अहो ।
आत्मप्रवादपूर्व में जाना सन्तों ने है यही अहो ॥१८१॥

[श्लोकार्थः] मुनियों को काम-क्रोधादि अन्य भावों के क्षय की जो सम्भावना अथवा तो अपने ज्ञान की जो सम्भावना (-सम्यक् भावना) वह उग्र प्रायश्चित्त कहा है । सन्तों ने १आत्मप्रवाद में ऐसा जाना है (अर्थात् जानकर कहा है) ॥१८१॥

श्लोक -१८१ पर प्रवचन

[अब, इस ११४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च ।
किञ्च स्वस्य ज्ञानसम्भावना वा सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे ॥१८१॥

[श्लोकार्थः] मुनियों को... आहाहा ! देखो ! मुनि की बात है । उन्हें राग और द्वेष है । एक ओर कहे कि समकित्ती को राग-द्वेष नहीं होता । यह किस अपेक्षा से बात है ? वह

१. आत्मप्रवाद पूर्व नामक शास्त्र में ।

तो दृष्टि की अपेक्षा से बात करने पर दृष्टि का विषय ध्रुव है और दृष्टि निर्विकल्प है। दृष्टि में एक और दो, वे दो नहीं हो सकते। दृष्टि के विषय में दो नहीं होते। यह क्या कहा? दृष्टि निर्विकल्प है। उसका विषय एक होता है, दो नहीं होते। सविकल्प ज्ञान हो, उसके विषय दो होते हैं। सविकल्प अर्थात्? राग नहीं, हों! वह ज्ञान ही सविकल्प कहलाता है। स्व-पर को जाने, वह दो को जाने, वह सविकल्प और एक ही त्रिकाली दृष्टि में रखे, वह दृष्टि निर्विकल्प दृष्टि है, तो उसका विषय एक ही है। त्रिकाल। आहाहा! ऐसा सब कहाँ याद रखना। धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती।

मुमुक्षु : जापानवाले ने कहा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जापान...

मुमुक्षु : बनियों को निवृत्ति नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जापानवाले ने लिखा है। जापान के एक ऐतिहासिक ने लेख लिखा है। जापान का ऐतिहासिक। जैन का पढ़ा हुआ। फिर समाचार-पत्र में लिखा था। जैन अर्थात् आत्मा की अनुभूति। आत्मा की अनुभूति, वह जैन। इतना कहकर वापस उलहाना दिया है। परन्तु वह मिला है बनियों को। बनिये व्यापार से निवृत्त नहीं होते। निर्णय करने के लिये समय नहीं निकालते। वापस ऐसा कहा। जापान का ऐतिहासिक था। बड़ा ऐतिहासिक।

मुमुक्षु : बनियों ने जैनधर्म सम्हाल कर रखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है तो बनियों में ही है न अभी। परन्तु ऐसा कि बनियों को निवृत्ति नहीं, इसलिए निर्णय नहीं करते। ऐसा लिखा है। सत्य और असत्य को मिलान नहीं करते कि सत्य क्या है? असत्य क्या है? प्रभु का अनेकान्तमार्ग क्या है? अनेकान्त है। एकान्त नहीं। किस अपेक्षा से कहा है, उसे अनेकान्त से इसे जानना चाहिए। ऐसा कि उसके लिये निवृत्ति चाहिए। तो निवृत्ति लेते नहीं। व्यापार में घुस गये हैं। ऐसा उस बेचारे ने लिखा है परन्तु अभी रहा है बनियों में। आहाहा! पटेल भी है, हमारे रामजीभाई और वे पटेल है न राजकोट के हैं, करोड़पति हैं। पटेल किसान हैं। करोड़पति हैं। ऐसे बहुत से दूसरे हैं। उसमें यह कहीं किसी जाति का धर्म है कि अमुक जाति का? हरिजन में भी सम्यक्त्व होता है। ढेढ़ में। रत्नकरण्डश्रावकाचार में है कि जैसे अग्नि राख से ढँकी हुई हो, वैसे

हरिजन सम्यक्त्वी है परन्तु अभी पुण्य और पाप के बाहर का दिखाव ऐसा नहीं है, इसलिए मानो दबी हुई है। रत्नकरण्डश्रावकाचार... आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते हैं **मुनियों को...** देखो। स्पष्ट मुनि की बात ली है। **काम-क्रोधादि अन्य भावों के क्षय की जो सम्भावना...** काम-क्रोधादि है न? छठवें गुणस्थान में मुनि हैं। काम-क्रोधादि दो कैसे लिये? काम में राग और क्रोध में द्वेष। राग और द्वेष का भाव उन्हें अभी उत्पन्न होता है। आहाहा! **क्रोधादि अन्य भावों के क्षय की जो सम्भावना...** नाश करने की जो भावना। आहाहा! तब है तो सही। मुनि को अभी विकार है और एक ओर समकृति को बन्ध और आस्रव नहीं है। यह तो दृष्टि की अपेक्षा से। ज्ञान की अपेक्षा से तो सब पूरा उसका स्वरूप है, वह उसमें है। ऐसा ज्ञात होता है। आहाहा!

सवेरे सैंतालीस नय में कहा नहीं? क्रोध, मान, माया, लोभ का कर्ता समकृति है। कर्ता वह है। परिणमे वह कर्ता। परिणमन उसका है और भोक्ता भी उसका है। आहाहा! सैंतालीस नय में है। उन सब नयों का आधार आत्मा है, उसे लागू करते हैं। सब नय का अधिष्ठाता आत्मा है। आहाहा! वह नय अज्ञानी को लागू नहीं पड़ते। आहाहा! अज्ञानी को नय नहीं होते। नय श्रुतज्ञान का भेद है। वह पाठ वहाँ है। अनन्त नयरूपी श्रुतप्रमाण द्वारा आत्मा अनुभव करे। है न भाई उसमें? अनन्त नयस्वरूप श्रुतप्रमाण। भावश्रुत, हों! उससे आत्मा का अनुभव करे। आहाहा! उन सब नय का अधिष्ठाता स्वामी आत्मा है। ले, क्रोध करे, राग करे, वह कर्ता, उसका स्वामी आत्मा। राग को वेदे, भोगे, उसका स्वामी आत्मा। पहले अधिष्ठाता लिया है। अनन्त नयों का अधिष्ठाता भगवान आत्मा है। आहाहा! अधिष्ठान दो जगह आता है। दो जगह अधिष्ठान आता है। प्रवचनसार में।

मुमुक्षु : सप्तभंगी में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है इसमें? आता है। इसमें लिखा है। आत्मा कौन है? कैसा है? किस प्रकार प्राप्त किया जाता है? ऐसा प्रश्न करने पर, ऐसा प्रश्न होवे तब... आहाहा! आवे तो उसका उत्तर कहा गया है। यहाँ फिर से भी कहा जाता है। परन्तु ऐसा प्रश्न जिसे उठे, उसे कहा जाता है। जिसे कुछ समझने की दरकार नहीं, उसे नहीं। जिसे अन्दर से... इसलिए कहा कि ऐसा फिर से भी कहा जाता है। उसे यह उत्तर कहा गया है। आहाहा! प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनन्त धर्म का अधिष्ठाता। अनन्त

जो नय हैं, उनका जो धर्म है, पश्चात् भले विकार हो, परन्तु सबका आधार-अधिष्ठाता-स्वामी आत्मा है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहना कि समकिति को राग और आस्रव तथा बन्ध है नहीं। एक ओर यहाँ मुनि छठवें गुणस्थान में... आहाहा! दसवें गुणस्थान तक बन्ध है। लोभ का अंश वेदन होगा, तब बन्ध पड़े या न वेदन हो, और बन्ध पड़े? लोभ-उदय में आकर खिर जाए तो बन्ध पड़ेगा? दसवें गुणस्थान में अभी लोभ का वेदन है। दसवें गुणस्थान में। तो चौथे, पाँचवें, छठवें की तो बात क्या करना? वेदन बिना बन्ध नहीं होता। अकेला उदय आकर खिर जाए तो बन्ध होगा? वह वेदन है, उतना लोभ है। उतना छह कर्म, आठ और दसवें में बनते हैं। यहाँ यह कहते हैं। अब यह पृष्ठ ४८१। यहाँ अधिष्ठाता कहा न? प्रवचनसार पृष्ठ ४८१। यहाँ अधिष्ठाता कहा।

विश्व के वाचक, 'सत्' लक्षणवान ऐसा जो शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्म के वाच्य 'सत्' लक्षणवाला ऐसा जो सम्पूर्ण विश्व उन दोनों के ज्ञेयाकार अपने में युगपत् गुंथ जाने पर (ज्ञातृत्व में एक ही साथ ज्ञात होने से) उन दोनों का अधिष्ठानभूत— शब्दों का और भाव का दो का आधार आत्मा। २६८ गाथा में है। उन दोनों का अधिष्ठानभूत— ऐसा 'सत्' लक्षणवाले ज्ञातृत्व का निश्चय किया होने से... सबमें अन्दर पर्याय में जितना अंश है, वह मेरा कर्तव्य और मेरा वेदन है, ऐसा जिसने निश्चय से निर्णय किया है। आहाहा! यहाँ अधिष्ठान शब्द प्रयोग किया है और वहाँ भी अधिष्ठान (शब्द) है।

सब गुणों और पर्यायों का आधार आत्मा है। विकारी पर्याय और अविकारी पर्याय तथा गुण का आधार आत्मा है। विकारी पर्याय का आधार कर्म है, ऐसा नहीं। वह तो जब स्वभाव की पूर्ण की बात जब चलती हो, दृष्टि के विषय की (बात चलती हो), तब कहते हैं कि विकार का कारण है कर्म। कर्म कारण है और विकार कार्य है। वहाँ (समयसार में) ऐसा कहा। ७५-७६ गाथा। आहाहा! अब इतना सब (समझने की) निवृत्ति कब? निवृत्ति।

मुनियों को काम-क्रोधादि... अर्थात् राग-द्वेष अन्य भावों... वे अन्य भव हैं। हैं पर्याय में, परन्तु अन्य भाव हैं। उनके क्षय की जो सम्भावना अथवा तो अपने ज्ञान की जो सम्भावना... दो बातें की हैं। राग-द्वेष जो अन्य भाव (जो) स्वभाव से अन्य है। है पर्याय में परन्तु स्वभाव से अन्य है। त्रिकाली स्वभाव में नहीं। इसलिए अन्य भावों के क्षय की... उन्हें नाश करने की जो सम्भावना... एक बात। अथवा तो अपने ज्ञान की जो

सम्भावना... उन्हें नाश करने की सम्भावना, यह तो नास्ति से बात हुई। यहाँ अपने ज्ञान की सम्भावना, यह अस्ति से बात हुई। आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा।

अपने ज्ञान की जो सम्भावना (-सम्यक् भावना)... आहाहा! अपना जो स्वभाव है, उसकी दृष्टि करने पर पर्याय में जो रागादि हैं, उनका क्षय करने की भावना। एक बात; और या अपने ज्ञानगुण की भावना। मुनियों को क्षय करने का लिया और यह अब भाव से नाश होता है। अपने ज्ञान की जो भावना। उसमें ऐसा कहा था न? अन्य भावों के क्षय की। आहाहा! है उसकी पर्याय में परन्तु स्वभाव से अन्य है, उसे नाश करने के लिये और **अपने ज्ञान की जो सम्भावना (-सम्यक् भावना), वह उग्र प्रायश्चित्त कहा है।** आहाहा! उसे उग्र प्रायश्चित्त धर्म कहा है। आहाहा! प्रायश्चित्त कहो या धर्म कहो, प्रायश्चित्त कहो या मोक्षमार्ग कहो, प्रायश्चित्त कहो या वीतरागता कहो। आहाहा! समझ में कठिन पड़ता है। एक ओर परभाव को कर्म का कहे, एक ओर मुनि को भी स्वयं का कहे। आहाहा! किस अपेक्षा से है? प्रभु!

यहाँ तो अंश-अंश पूरी वस्तु का स्वरूप बताते हुए, उसमें जो है, वह सब उसका है परन्तु द्रव्य की दृष्टि में निर्विकल्पता में तो द्रव्य ही अकेला दृष्टि में होता है। उसे दो नहीं होते। इसलिए उसे विकार पर का है, ऐसा कहकर निकाल डाला, परन्तु ज्ञान तो स्व और पर को सबको जानता है, इसलिए स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान क्रोधादि, रागादि मुझमें है और द्रव्य में नहीं है। द्रव्यस्वभाव में नहीं है परन्तु पर्याय में है, ऐसे दोनों नय से जानता है। दृष्टि में पर्याय होती नहीं। पर्याय की दृष्टि होती नहीं। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि का विषय नहीं होता। क्या कहा यह? सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन का विषय नहीं होता क्योंकि निर्विकल्प है इसलिए एक ही विषय उसका त्रिकाली द्रव्य है। सम्यग्दृष्टि का विषय त्रिकाली द्रव्य है। आहाहा! और ज्ञान का विषय त्रिकाली को जाने और पर्याय को भी अपने में है ऐसा जाने। वह केवलज्ञान भी सविकल्पस्वरूप है। राग और विकल्प नहीं। स्व और पर, इसका नाम विकल्प है। आहाहा!

अपने ज्ञान की जो सम्भावना... सम्भावना की व्याख्या की है। सम अर्थात् सम्यक् (-सम्यक् भावना)... जैसा स्वरूप है, वैसी अन्तर एकाग्रता सम्यक् भावना। आहाहा! वह तो निर्मलानन्द प्रभु है। द्रव्यस्वभाव तो निर्मल भरपूर अनन्त गुण का सागर।

एक भी गुण विकार करे, ऐसी दशा ही नहीं है। पर्याय में विकार होता है, वह तो अद्धर से होता है। निमित्त के आधीन होने से होता है, निमित्त से नहीं। निमित्त के आधीन होनेवाले को पर्याय में होता है। गुण कोई विकार करे, ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की अर्थात् आत्मा की सम्यक् भावना। वह उग्र प्रायश्चित्त कहा है। आहाहा! सन्तों ने आत्मप्रवाद में ऐसा जाना है... देखा! आत्मा का जहाँ कथन है—आत्मप्रवाद, उसमें सन्तों ने ऐसा जाना है। आहाहा! आत्मप्रवाद नाम का शास्त्र है। आत्मा की ही अकेली बात होती है, ऐसा वह शास्त्र है। सन्तों ने आत्मप्रवाद में ऐसा जाना है... आहाहा! (अर्थात् जानकर कहा है)। सन्तों ने जानकर इस प्रकार कहा है। आहाहा! वस्तु जो त्रिकाल है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है; इसलिए वह गुणभेद भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं तो फिर पर्याय तो उसका विषय होगा ही कहाँ से? आहाहा! सम्यक्चारित्र पर्याय है, वह भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। आहाहा! चारित्र-वीतरागता, वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। सम्यग्दर्शन का विषय ध्रुव त्रिकाल एकरूप है और ज्ञान का विषय तो समय-समय जो पर्याय होती है, उसका स्वयं गुण का द्रव्य का, पर्याय का तीनों का विषय करता है। आहाहा! समझ में आया ?

समयसार में तो बहुत जगह ऐसा ही आता है। समकिति को बन्ध नहीं, आस्रव नहीं। वहाँ तो ऐसा कहा नहीं? मिथ्यात्व वह संसार है। सवेरे ऐसा कहा न? तो फिर अत्रत वह संसार नहीं? वह तो बड़ा संसार, अनन्त संसार का कारण, वह मिथ्यात्व है; इसलिए उसे मिथ्यात्व, वह संसार (ऐसा कहा), वहाँ ऐसा कहा तथा एक ओर चौदहवें गुणस्थान में संसार है। केवली तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में अभी संसार है क्योंकि असिद्ध है, इक्कीस बोल में आता है। आहाहा! एक ओर चौथे (गुणस्थान) में संसार नहीं तथा एक ओर चौदहवें (गुणस्थान) में संसार है। किस अपेक्षा से? एकान्त मानकर बैठे। यह तो अनेकान्त मार्ग है। जिस प्रकार से उसका स्वरूप है, उस प्रकार से है। जिस प्रकार से है, वैसा उसे जानना चाहिए। आहाहा! इसलिए यहाँ कहते हैं।

यह बात कहाँ से कहते हैं, कहा? मुनि कहते हैं कि हम हमारे घर की नहीं कहते। 'आत्मप्रवाद' में ऐसा कहा है। जहाँ आत्मा का अधिकार परमात्मा ने कहा है, वहाँ यह बात आयी है। वह बात यहाँ हम कहते हैं। आहाहा! (अर्थात् जानकर कहा है)।

लो! विशेष आयेगा....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)